

भारत में देशज ज्ञान एवं तकनीक

अन्वेषा बोरटाकुर

“एक बुजुर्ग की मौत के साथ ही एक पूरा पुस्तकालय भस्म हो जाता है।” - एक अफ्रीकी कहावत और अलास्का की लोकोक्ति

भारत में अनेक देशज समुदाय हैं। इस वजह से यहां देशज ज्ञान और तकनीकों का भंडार भरा पड़ा है। इन सभी समुदायों के पारंपरिक ज्ञान और तकनीकों की अपनी-अपनी विशिष्ट प्रणाली है। इनमें से कई तो ज्ञान और तकनीक की आधुनिक प्रणाली से किसी भी तरह कमतर नहीं हैं। यह देशज ज्ञान प्रमुख सामाजिक, आर्थिक एवं पर्यावरणीय समस्याओं के समाधान में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। इनमें चिकित्सा व कृषि से लेकर जलवायु परिवर्तन और प्राकृतिक आपदाओं से सम्बंधित मुद्दे भी शामिल हैं। यह देशज ज्ञान इन समुदायों को प्राचीन काल से सुविधाएं और जीविकोपार्जन मुहैया करवाता आया है।

यह आलेख भारत में अनेक देशज समुदायों में उपस्थित देसी तकनीकी ज्ञान पर केंद्रित है। कृषि, पशुपालन और मत्स्य पालन जैसे ये क्षेत्र भारतीय संदर्भ में बहुत ही महत्वपूर्ण हैं और ये देश के सामाजिक-आर्थिक विकास में काफी अहम भूमिका निभाते हैं। विभिन्न समुदायों में मौजूद देसी तकनीकी ज्ञान का दस्तावेजीकरण कर उन्हें सुरक्षित रखना आज की महती ज़रूरत है। इनमें से अनेक समुदायों में यह ज्ञान लुप्त होने की कगार पर है। देशज और आधुनिक ज्ञान की प्रेक्टिस के बीच समुचित तालमेल का सख्त अभाव देखने को मिलता है। फिर बौद्धिक संपदा अधिकारों से जुड़े कई गंभीर मुद्दे भी हैं। अगर देशज और आधुनिक ज्ञान व तकनीकी प्रणाली के बीच उचित समन्वय हो जाए तो इसका लाभ पूरे समाज को होगा।

प्रस्तावना

आज के आधुनिक समाज में हम अक्सर देशज समुदायों की जीवन पद्धति को अनदेखा कर देते हैं। कई तथाकथित ‘आधुनिक’ नागरिक देशज या पारंपरिक समुदायों को आदिम, गंवार और असभ्य मानते हैं। हालांकि अगर हम इन पारंपरिक

समुदायों की परंपराओं और जीवन शैली को देखें तो इस बात से तनिक भी इंकार नहीं कर सकते कि उनके पास कितना असीम देशज ज्ञान और तकनीकी है। कई मामलों में तो वह आधुनिक ज्ञान के भी बराबर है। कुछ देशज तकनीकें तो उनके समकक्ष आधुनिक तकनीकों के मुकाबले अधिक पर्यावरण-अनुकूल, टिकाऊ, कम खर्चीली और प्रभावी हैं। अलबत्ता, दुनिया की सांस्कृतिक एवं जैविक विविधता और सस्टेनेबल विकास में देशज लोगों के योगदान को स्वीकारने के बावजूद पारंपरिक ज्ञान और तकनीकों के क्षेत्र में कई चुनौतियां बाकी हैं। स्थानीय या देशज ज्ञान स्थानीय समुदायों द्वारा पोषित और विकसित जानकारी एवं परंपरा के संचित व जटिल रूप हैं, जिनका प्राकृतिक परिवेश के साथ लंबा इतिहास रहा है। देशज ज्ञान किसी एक विशिष्ट समुदाय में विकसित होता है और फिर वह अनौपचारिक माध्यमों से एक से दूसरे लोगों के बीच पहुंचता है। इस प्रकार के ज्ञान पर सबका सामूहिक अधिकार होता है, यह कई पीढ़ियों के दौरान विकसित होता है और उस समुदाय-विशेष की जीवन-शैली के अनुरूप उसे आत्मसात किया जाता है।

देशज ज्ञान के समग्र फ्रेमवर्क के तहत देसी तकनीकी ज्ञान का योगदान शानदार रहा है। इस ज्ञान ने ग्रामीण क्षेत्रों में मुर्गी पालन जैसे कई महत्वपूर्ण उद्यमों के विकास में प्रभावी भूमिका निभाई है। इस आलेख में हम कृषि, पशु पालन और मत्स्य पालन के क्षेत्रों पर विचार करेंगे।

कृषि

अनाज भंडारण संरचना: भारतीय अर्थव्यवस्था में कृषि का महत्वपूर्ण स्थान है। लेकिन इसके बावजूद भंडारण के दौरान अनाज की बर्बादी भारत के लिए चिंता की बात है। अधिकांश कृषि प्रधान देशों के किसान अपने अनाज को सुरक्षित रखने के लिए संघर्षरत रहते हैं। भारत के कई

हिस्सों में किसान अनाज के भंडारण के लिए पारंपरिक ज्ञान का इस्तेमाल करते आए हैं। इस वजह से उनके पास भंडारण की शानदार संरचनाएं होती हैं। भंडारण की ये संरचनाएं पर्यावरण अनुकूल, सस्ती, स्थानीय स्तर पर उपलब्ध और स्वास्थ्य के लिए नुकसानदेह भी नहीं होतीं। तमिलनाडु के डिंडीगुल ज़िले में ऐसी ही एक अद्भुत संरचना उपलब्ध है और यह है कुलुमाई।

कुलुमाई घर के भीतर ही बनी ऐसी अनाज भंडारण संरचना है, जो विभिन्न प्रकार के अनाजों, खासकर धान, के भंडारण के लिए बनाई जाती है। इसमें 600 से 700 किलो तक अनाज का भंडारण किया जा सकता है। इससे न केवल बीमारियों और कृमियों, बल्कि चूहों और अन्य कृन्तकों से भी भंडारित अनाज की रक्षा होती है। इसे तालाब की गाद, चावल की भूसी और धान के पुआल से बनाया जाता है। इनमें से अधिकांश सामग्री स्थानीय स्तर पर आसानी से मिल जाती है। कुलुमाई में कोई भी अनाज तीन साल तक खराब नहीं होता। किसी भी आधुनिक संरचना में यह संभव नहीं है।

भूमिगत अनाज भंडारण गड्ढा: अनाज भंडारण के लिए यह एक बहुपयोगी संरचना है, जिसे बनाने में काफी कम खर्च आता है। यह अक्सर घर के आंगन या पिछवाड़े में वर्गाकार, आयताकार या वृत्ताकार बनाया जाता है। इन गड्ढों का इस्तेमाल अक्सर विभिन्न प्रकार के मोटे अनाज जैसे ज्वार, बाजरा, मंडुआ आदि के भंडारण में किया जाता है। इस गड्ढे में अनाज भरने से पहले स्थानीय स्तर पर उपलब्ध चावल की भूसी या किसी फसल से निकलने वाले अपशिष्ट पदार्थों को नीचे बिछा दिया जाता है। इसके बाद भीतरी दीवारों को ज्वार या बाजरा के सूखे डंठलों से कवर कर दिया जाता है। इसके उपरांत इसमें अनाज भरकर उसे पत्थर के आयताकार खंड और टाट की बोरियों से ढंक दिया जाता है। फिर उसके ऊपर सूखी रेत डाल दी जाती है, ताकि अनाज नमी से बचा रहे। इन भूमिगत भंडारण गृहों में तीन से पांच माह तक अनाज का भंडारण किया जाता है। बारिश के दिनों में इन गड्ढों का इस्तेमाल नहीं किया जाता।

इन उपरोक्त दो उदाहरणों से पता चलता है कि देशज समुदाय अपने खुद के पारंपरिक ज्ञान के आधार पर किस तरह खाद्यान्न को सुरक्षित रखते हैं। पारंपरिक ज्ञान के आधार पर विकसित इन पर्यावरण अनुकूल और



स्थानीय ज़रूरतों के मुताबिक निर्मित संरचनाओं में समय और नए अनुभव के साथ बदलाव और परिष्करण करते जाते हैं। इस तरह देशज समुदायों को आत्म-सम्पन्न बनाने में यह पारंपरिक ज्ञान मददगार साबित होता है। हालांकि आज इनमें से कई संरचनाएं लुप्त होने की कगार पर हैं। इसकी वजह है इन देशज समुदायों की टिकाऊ परंपराओं के बारे में जागरूकता का अभाव होना और भंडारण के आधुनिक तरीके। इन आधुनिक तरीकों को अक्सर पारंपरिक तरीकों से बेहतर माना जाता है।

पशुपालन

पशुपालन के क्षेत्र में देसी ज्ञान का काफी महत्व है। पशुधन को स्वस्थ बनाए रखने और इस तरह आर्थिक लाभ कमाने के लिए यह ज्ञान काफी मायने रखता है। बत्तख ऐसी एकमात्र प्रजाति है, जिसके उत्पादन में अब भी पारंपरिक प्रणालियों का इस्तेमाल किया जा रहा है। भारत में बत्तख उत्पादन अब भी पारंपरिक, खानाबदोश और कई बार तो प्राचीन तरीकों से किया जाता है। इसके आधार में देसी तकनीकी ज्ञान है, जो प्रभावी और कई बार किफायती भी साबित हुआ है। तमिलनाडु के कांचिपुरम ज़िले के उथिरमेरुर तालुका और विल्लुपुरम ज़िले के तिंडीवनम तालुका में काफी संख्या में बत्तखों के झुंड देखे जा सकते हैं।

परिष्कृत हैचिंग यंत्र: उपरोक्त दोनों ज़िलों में बत्तख

उत्पादक बत्तख के अंडों को सेने के लिए लकड़ी के रीपर्स से बनी एक कैबिनेट का इस्तेमाल करते हैं। इस कैबिनेट के सबसे निचले हिस्से में सेने वाले अंडों को रखने के लिए एक जाली लगी होती है। कैबिनेट को एक छोटे-से कमरे में रखा जाता है, जिसकी छत एस्बेस्टस, फर्श सीमेंट और दीवारें ईटों की बनी होती है। कमरे में तापमान मुहैया करवाने के लिए अंडों से 15 से.मी. ऊंचाई पर 40 वॉट के बल्ब इस्तेमाल किए जाते हैं। आर्द्रता बनाए रखने के लिए कैबिनेट के आसपास टाट के पुराने बोरे और कपड़े लटका दिए जाते हैं। इन्हें समय-समय पर गर्म पानी में भिगोया जाता है। चूंकि अंडों को कैबिनेट के खुले हिस्से में रखा जाता है, ऐसे में अंडों के अंदर के भ्रूणों को विकसित होने के लिए वातावरण की ऑक्सीजन मिलती रहती है। इस तरह यह कैबिनेट अंडों के सेने के लिए सभी ज़रूरी मानदंड मुहैया करवाता है: 38 डिग्री सेल्सियस तापमान, 70-80 फीसदी आर्द्रता और करीब 21 फीसदी ऑक्सीजन। ऐसी प्रत्येक इकाई की क्षमता 18 से 20 हजार अंडे तक होती है।

मत्स्य पालन

भारत में जल स्रोतों की अलग-अलग प्रकृति के अनुरूप ही समय के साथ नाना प्रकार की मछली पकड़ने की नावें और उपकरण अस्तित्व में आए। इन मत्स्य नौकाओं और उपकरणों का निर्माण लंबी अवधि में अर्जित अनुभव का नतीजा माना जा सकता है। भौगोलिक स्थान, इकोलॉजी,



8/स्रोत विज्ञान एवं टेक्नॉलॉजी फीचर्स

उपलब्ध संसाधन और मछुआरों की आर्थिक स्थिति के अनुसार मछली पकड़ने की अलग-अलग तकनीक और पैटर्न रहे हैं। बाद में अलग-अलग क्षेत्रों में विशिष्ट मत्स्य नौकाएं और मछली पकड़ने के उपकरण स्थापित हुए।

अधिकांश पारंपरिक समुदाय स्थानीय स्तर पर उपलब्ध सस्ती सामग्री का इस्तेमाल कर मछली पकड़ने की ऐसी तकनीकों का निर्माण करते हैं जिनसे उन्हें अधिकतम नतीजे मिलते हैं। मन्ना और अन्य ने मिलकर 2001-2002 में कृष्णा नदी तट के 24 स्थानों पर एक अध्ययन किया था। इस मानसून सर्वे में लेखकों का सामना छह अलग-अलग प्रकार की नौकाओं और कम से कम दस प्रकार के उपकरणों से हुआ था। इनमें से सबसे सस्ते, टिकाऊ और सस्टेनेबल मत्स्य नौकाओं व उपकरणों का वर्णन नीचे दिया गया है।

मत्स्य नौका

कोराकल : प्रायद्वीपीय भारत की नदियों में मछली पकड़ने के लिए तश्तरी आकार की इन नौकाओं का इस्तेमाल किया जाता है। ये बांस की खपच्चियों से तैयार ढांचे पर एचडीपीपी शीट को लपेटकर बनाई जाती हैं। इनके ऊपर कोलतार लगा दिया जाता है, जिससे ये और भी मज़बूत बन जाती हैं। ये साधारण और सस्ती होने के साथ-साथ हर प्रकार के पानी में टिकाऊ होती हैं।

उपकरण

पुश नेट : इसे बांस के एक त्रिभुजाकार ढांचे पर मच्छरदानी के कपड़े को लगाकर बनाया जाता है। मछुआरे पहले इसे पानी में डालते हैं और फिर उसे खींच लेते हैं। इसके ज़रिए वे खासकर टाइगर झींगा मछलियों के बच्चों को पकड़ते हैं। एक मछुआरा एक ही समय पर आम तौर पर ऐसी दो जालियों का इस्तेमाल करता है।

लैंटर्न नेट : मछली पकड़ने के लिए यह एक बहुत ही दिलचस्प नवाचार है। यह शंकु के आकार की एक नेट होती है। इसमें केरोसिन गैस से जलने वाला एक बल्ब लगा होता है। कीट-पतंगों की तरह ही मछलियों की कई प्रजातियां ऐसी होती हैं, जो रोशनी के प्रति आकर्षित होती हैं। जैसे ही

मछलियां रोशनी से आकर्षित होकर पास आती हैं, उन्हें शंक्वाकार नेट में घेर लिया जाता है। यह तकनीक उथले पानी में अधिक कारगर है, जहां कम समय और प्रयास में ही काम हो जाता है।

क्षेत्र विशेष के लिए बनी नौकाएं और मछली पकड़ने के उपकरण ग्रामीण भारत के इलाकों में आज भी प्रचलित हैं। हालांकि मछली पकड़ने में मशीनों का इस्तेमाल होने के कारण अब ये पारंपरिक तरीके धीरे-धीरे विलुप्त हो रहे हैं। हमें यह समझना चाहिए कि पारंपरिक मछुआरा ही बता सकता है कि कौन-से रंग के जाल में अधिक मछलियां फंसती हैं, किस तरह की सामग्री से बना जाल कम फटता है और कौन-सा उपकरण किस मछली के लिए अधिक उपयुक्त है। इस प्रकार पारंपरिक नौकाओं व उपकरणों का विस्तृत अध्ययन करके हम मछली पकड़ने के आधुनिक उपकरणों को उन्नत बना सकते हैं। पारंपरिक तकनीकों के आधुनिकीकरण से भारत के मत्स्य पालन क्षेत्र में उल्लेखनीय प्रगति की जा सकती है।

उपसंहार

आर्थिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक और पर्यावरण के क्षेत्र में जिस तेज़ी से बदलाव आ रहे हैं, उससे पारंपरिक या देशज ज्ञान प्रणाली विलुप्त होने की कगार पर खड़ी है। स्थानीय तरीके खत्म हो रहे हैं, क्योंकि वे नई चुनौतियों और विदेशी तकनीकी या विकास की धारणाओं की घुसपैठ का सामना करने में असहाय साबित हो रहे हैं। ये नई विदेशी तकनीकें समस्याओं का समाधान और अल्पकालीन फायदे पहुंचाने के वादे तो करती हैं, लेकिन उन्हें निभा नहीं पातीं। एक बार पारंपरिक ज्ञान का क्षय शुरू हो जाए, तो उसमें बड़ी तेज़ी से गिरावट आती है। जब इस ज्ञान के अभाव में ग्रामीण इलाकों में रह रहे पारंपरिक समुदायों के जीवन और स्वास्थ्य पर नकारात्मक असर पड़ने लगता है तो देशज ज्ञान के संरक्षण की मुहिम काफी अहम हो जाती है। चूंकि देशज ज्ञान का दस्तावेज़ीकरण नहीं होता है और इसलिए उसके अस्तित्व पर हमेशा तलवार लटकी रहती

है। इसलिए विभिन्न देशज समुदायों के पारंपरिक ज्ञान और तकनीकों के दस्तावेज़ीकरण व उन्हें सुरक्षित किए जाने की सबसे महती ज़रूरत है, ताकि ज़मीनी स्तर पर नवाचार की प्रक्रिया को आगे बढ़ाया जा सके। कई मामलों में देखा गया है कि देशज समुदायों को पता ही नहीं है कि उनके पास जो पारंपरिक ज्ञान और तकनीकें हैं, उनका कितना महत्व है। देशज समुदायों में क्षमता निर्माण और उनकी पारंपरिक पद्धतियों व तकनीकों को लोकप्रिय बनाने में सरकारी व निजी वैज्ञानिक संस्थान, विश्वविद्यालय और गैर सरकारी संगठन निर्णायक भूमिका निभा सकते हैं। देशज समुदायों तक सरकारी योजनाएं और शोध एवं विकास गतिविधियां पहुंचनी चाहिए। देसी तकनीकी ज्ञान का मूल्यांकन करके उसे लोकप्रिय बनाना ज़रूरी है।

ऐसा महसूस किया गया है कि देशज और आधुनिक ज्ञान प्रणालियों के बीच समुचित तालमेल का अभाव है। हालांकि एथनोमेडिसीन के क्षेत्र में कुछ समन्वय बनाया गया है। अगर देशज और आधुनिक ज्ञान प्रणालियों के बीच समुचित तालमेल हो जाए तो कृषि, मत्स्य पालन, पशु पालन इत्यादि क्षेत्रों में इसका व्यापक फायदा मिल सकता है। लेकिन इस समन्वय के सामने कई चुनौतियां हैं, जिसमें सबसे बड़ी चुनौती तो बौद्धिक संपदा अधिकार जैसे बेहद जटिल मुद्दों का निपटारा करना है।

इस आलेख में भारत में प्रचलित देशज ज्ञान एवं तकनीकों के कुछ ही उदाहरण प्रस्तुत हुए हैं। अब भी देश के विभिन्न समुदायों के बीच ऐसी ढेरों पद्धतियां और तरीके हैं, जिनका दस्तावेज़ीकरण होना बाकी है। कहा जा सकता है कि देसी ज्ञान एवं तकनीक के क्षेत्र में अनुसंधान की काफी संभावना है और इस तरह सस्टेनेबल ज़मीनी नवाचार में इसकी अहम भूमिका हो सकती है।

अंत में उस अप्रिकी कहावत व अलास्का की लोकोक्ति - “एक बुजुर्ग की मौत के साथ ही एक पूरा पुस्तकालय भस्म हो जाता है” - के संदर्भ में यही कहना होगा कि देसी ज्ञान एवं परंपराओं के नष्ट होने से पहले ही उनका संरक्षण कर लेना चाहिए। (स्रोत फीचर्स)